

भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में परम्परा एवं आधुनिकता का मेल एवं द्वंद्व

डॉ० अरुण कुमार*

19वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय राजनीति पश्चिमी एवं पूर्वी संस्कृतियों एवं विचारों के द्वंद्व एवं समायोजन के फलस्वरूप रूपाकार हुआ। पश्चिमी संस्कृति ने एक तरफ अपने अधीन आए हुए भारत की संस्कृति को हेय समझा तो भारतीय संस्कृति ने इस औपनिवेशिक वर्चस्ववाद के विरुद्ध बिगुल फूँका। इसी द्वंद्व के समानान्तर एक दूसरी विचारधारा आ उपजी। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की प्रशंसा कर इसे अपनाने की सलाह दी तो भारतीयों ने भी पश्चिम की संस्कृति के अच्छे तत्वों को अपनाने की पेशकश की। यह द्वंद्व एवं समायोजन साथ-साथ चला और इन दोनों से भारतीय राष्ट्रीय राजनीति प्रभावित होकर संरचित हुई।

भारतीय राजनीति को आकार देने का यह बौद्धिक प्रयत्न, जो इस द्वंद्व एवं समायोजन पर आधारित था, परंपरा तथा आधुनिकता के प्रति अपने रूप में दुलमुल और बहुधा तो अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति में बना रहा। भारत का अपने इतिहास के अविच्छिन्न विकास के दावे को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न उसकी परंपरा का हूबहू नकल करना नहीं था। अतीत पर जोर देने और 'स्रोत की ओर वापसी' का मतलब जरूरी तौर पर प्रगति की समकालीन शक्तियों के मुकाबले अतीत को फिर से हूबहू जीवित करना नहीं था। इसी तरह, आधुनिकता का मतलब भी अतीत की अस्वीकृति नहीं थी, क्योंकि परंपरा आधुनिकता को साकार करने का एक शक्तिशाली औजार था। उपनिवेशीकृत जाति के लिए इतिहास के अतीत और भविष्य के बीच भेद की स्पष्ट रेखा खींचने की कोई बौद्धिक प्रस्तुति नहीं थी। फलतः अतीत और भविष्य की उनकी अवधारणाएं ऐसी थीं जो एक दूसरे का अतिक्रमण करती थीं। द्वंद्व एवं समायोजन का यह क्रम पूरी 19वीं सदी तक चलता रहा तथा इसने राष्ट्रीय जीवन को रूपायित किया। इसमें बौद्धिक जनों के एक समुदाय की रचना का निर्णायक महत्व था। औपनिवेशिक शासन द्वारा सृजित वस्तुगत स्थितियों से बौद्धिक वर्ग की रचना का तो मार्ग प्रशास्त हुआ, परंतु उसे एक सक्रिय समुदाय के रूप में एकीकृत करने का काम सबकी शिरकत वाले

*एम.ए.,पीएच.डी. इतिहास, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

सामाजिक-राजनीतिक प्रयत्नों ने किया। इस समुदाय के अंदर जो जुड़ाव पैदा हुआ वह राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के सक्रिय चरण में ही हुआ। हालांकि उसकी रचना की प्रक्रिया बहुत पहले, उन्नीसवीं सदी के लगभग शुरुआती दिनों में ही आरंभ हो गई थी, जब सामाजिक-सांस्कृतिक उपक्रमों के फलस्वरूप व्यक्तियों का अलगाव मिट चला था और आरंभ में क्षेत्रिय स्तर पर तथा बाद में राष्ट्रीय धरातल पर संपर्क के सूत्र स्थापित हो गए थे। यह एकीकरण कोई समान सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों का परिणाम नहीं था; विचारों के भेदों से भी इस प्रक्रिया में उतनी ही मदद मिली, क्योंकि सभी बौद्धिक जनों का उद्देश्य समाज में नवजीवन का संचार करना था। इसलिए जब वे लोग अलग-अलग विचारों के साथ आपस में बहस करते थे तब भी वे एक ऐसे समुदाय के अंग बनते जा रहे थे जो जाने अनजाने उभर रहे राष्ट्रीय राजनीति की संस्कृति पैदा कर रहे थे।

उन्नीसवीं सदी के आरंभिक हिस्से में बंगाल में सती प्रथा के उन्मूलन को लेकर चलने वाली बहस से लेकर उस सदी के अंतिम दशकों में विवाह वय विधेयक को लेकर छिड़े विवाद के बीच कई सार्वजनिक प्रश्न उन सबका सरोकार बन गए। धर्मांतरण-विरोधी अभिवेदन, मूर्तिपूजा-विरोधी प्रार्थनापत्र, लेक्स लोसी अधिनियम, विधवा विवाह अधिनियम और सिविल विवाह अधिनियम इसके चंद अदाहरण हैं। इन प्रश्नों पर चलने वाले आंदोलनों के दौर में स्थानीय तथा क्षेत्रीय बौद्धिक समुदायों की रचना के साथ-साथ एक जागरूक राष्ट्रीय संस्कृति का जन्म हो रहा था।

सामाजिक-धार्मिक सुधारों में जुटे जाने-माने संगठनों के अलावा, कई अन्य छोटे और बहुधा अल्पायु लेकिन फिर भी स्थानीय स्तर पर संबंध-सूत्र स्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण संगठन भी थे। उनमें भी अधिक महत्वपूर्ण कलकत्ता के अकादमिक एसोसिएशन और सोसायटी फार दि एक्विजिशन आफ जनरल नालेज, बंबई की स्टूडेंट्स लिटरेरी एंड साइंटिफिक सोसाइटी तथा ज्ञान-प्रसारक सभा एवं मद्रास की लिटरेरी सोसायटी थी। ये सभी बाह्य एवं आंतरिक सांस्कृतिक द्वंद्व एवं समायोजन पहलू थे।

ऐसे बहुत से स्वैच्छिक संघ भी थे जिन्होंने औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के प्रचार के माध्यमों का काम किया, और उसमें भारतीय बौद्धिक जनों ने भी शिरकत की। भारतीयों द्वारा स्थापित संघों के विपरीत, इन संघों ने अंतर्सामुदायिक संपर्क को संभव बनाया। उदाहरण के लिए, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी में 1818 में चार हिंदू और चार मुसलमान शामिल थे। इसी तरह भारत स्थित गोरों ने भारतीयों की सक्रिय भागीदारी के साथ 'देशी' पुस्तकालयों को स्थापित करने तथा बढ़ावा देने में भी दिलचस्पी ली। औपनिवेशिक विचारधारा के

प्रचार के हथकंडे होते हुए भी इन संस्थाओं ने बौद्धिक आदान-प्रदान के लिए एक उपयोगी मंच सुलभ कराया।

उन्होंने हालांकि आपसी संपर्क के लिए अवसर उपलब्ध कराया। साथ ही साथ बौद्धिक समुदाय की रचना की। अहम सामाजिक-सांस्कृतिक मसलों पर चर्चा की। औपनिवेशिक भारत में इस कोटि का सबसे प्रारंभिक उदाहरण सती प्रथा के उन्मूलन पर छिड़ा प्रसिद्ध विवाद है। इसके फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दौर के भारत के दी महत्वपूर्ण बौद्धिक व्यक्ति, राधाकांत देव तथा राममोहन राय और उनके समर्थक खुलेआम एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हो गए। राजामोहन ने 1818 में दो पत्रकों के माध्यम से अभियान आरंभ किया। इनमें उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक मसलों को सती के एक हिमायती तथा एक विरोधी के बीच संवाद के रूप में उठाया। यह अभियान कलकत्ता के बुद्धिजीवी वर्ग के बीच अभूतपूर्व बहस का आरंभ था। सती के उन्मूलन की हिमायत करने में राममोहन ने अपनी दलीलों का आधार धर्म ग्रंथों के प्रमाणों और साथ ही मानवीय प्रश्नों को भी बनाया। राधाकांत देव इस बात को लेकर अधिक चिंतित थे कि जो परिवर्तन किए जा रहे थे। वे विदेशी हस्तक्षेप से किए जा रहे थे। यह राय ध्यान देने योग्य है, खास तौर से इसलिए कि वे स्त्रीशिक्षा जैसे प्रगतिशील प्रयत्नों के हिमायती थे। उनके कई समर्थकों की स्त्रीशिक्षा के संबंध में उनका रुख नापसंद था और इसलिए वे उनके दल से हट भी गए। स्वयं राममोहन को यह बात ज्यादा पसंद थी कि परिवर्तन की प्रेरणा अंदर से उठे क्योंकि यही राष्ट्रीय जागरण का एकमात्र प्राण एवं प्रेरणा अंदर से उठे क्योंकि यही राष्ट्रीय जागरण का एकमात्र प्राण एवं प्रेरणा स्रोत होता। हमने पूर्व के अध्यायों में देखा कि सति प्रथा एवं विधवा विवाह से संबंधित आन्दोलन यद्यपि बंगाल में उठा परन्तु धीरे-धीरे इसने राष्ट्रीय प्रश्न का रूप ले लिया। हालांकि विधवा विवाह आंदोलन अखिल भारतीय आधार पर नहीं चलाया जा रहा था। फिर भी उससे संबंधित बहस का स्वरूप अखिल भारतीय हो गया। बंबई, बंगाल तथा मद्रास में बहस अखबारों के माध्यम से चली, जिससे इस उद्देश्य के समर्थकों और विरोधियों को एक ही तरह की दलीलों का सहारा लेने की सुविधा मिली।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. बौद्धिक जनों तथा-आम बौद्धिक कार्यकर्ताओं या बुद्धिजीवियों के बीच जो भेद है उसका आधार बौद्धिक जनों द्वारा संपादित सामाजिक कार्य है, जिसका वर्णन अंतोनियों ग्राम्शी ने नए संतुलन की रचना और भौतिक तथा सामाजिक संसार के सतत नवोन्मेष के रूप में किया है, अंतोनियों ग्राम्शी, सेलेक्शंस फ्रॉम दि ग्रिजन नोटबुकस, न्यूयार्क, 1971, पृ.9.

औपनिवेशिक भारत में इस अंतर के विवेचन के लिए देखिए पिछला अध्याय।

2. के.एम.पणिकर, पूर्वोक्त, पृ.96.
3. देखिए बंबई में 'देशी' पुस्तकालयों पर चर्चा, बांबे गजट, 9 अगस्त से 20 सितंबर 1843.
4. अमिताभ मुखर्जी, रिफार्म एंड रिजेनरेशन इन बंगाल, 1774-1823. कलकत्ता 1968, पृ. 276-282.
5. जे.सी.घोष (सं). दि इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, इलाहाबाद, 1906, पृ.325-29 और 360-62.
6. राधाकांत देव के जीवनीकार जे.सी.बागल का कहना है देव को यह आशंका थी कि विदेशी सरकार का हस्तक्षेप हिंदू समाज को पूरे तौर पर छिन्न-भिन्न कर देगा, मुखर्जी, रिफार्म एंड रिजेनरेशन इन बंगाल, पृ. 282.
7. हिंदू इंटेलीजेंसर, 2 जुलाई 1849.
8. चार्ल्स हैम्सैथ, इंडियन नेशनलिज्म एंड हिन्दू सोशल रिफार्म, प्रिंसटन, 1964, पृ. 89.
9. सन् 1851 से 1854 तक के बांबे गजट के अंको में इस आदान-प्रदान के अनेक उदाहरण मिलते हैं,

